विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

मानव सभ्यता में वस्तु विनिमय प्रक्रिया
सत्येश परिहार

पृष्ठ क्र. 3-4

उज्जयिनी का शैक्षणिक परिवेश और परंपरा
चंद्रशेखर शर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

शैव विश्व का प्राचीनतम धर्म
नीलकंठ अग्निहोत्री

पृष्ठ क्र. 7

प्राचीन शिलालेखों में भाषा और अक्षर
एन.के. शर्मा

पृष्ठ क्र. 8

विश्व में भारत के ज्ञानार्जन के बहु-विषयक केंद्र
मिथिलेश यादव

मानव सभ्यता में वस्तु-विनिमय प्रक्रिया

सत्येश परिहार

मानव सभ्यता के प्रारम्भ में वस्तु–विनिमय की प्रक्रिया अत्यन्त लघु रूप में विद्यमान थी। वस्तुतः यह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए गए छोटे उपकरणों तक सीमित थी। हांलाकि अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक स्वरूप में यह प्रक्रिया सूक्ष्म रूप में विद्यमान थी, लेकिन यह व्यापार के बढ़ते हुए स्वरूप तथा तकनीकी विकास के साथ बढ़ती चली गई। किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति में मानव जाति का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है। अपने बौद्धिक कौशल के कारण ही वह निरन्तर प्रगति की ओर उन्मुख होता रहा तथा परस्पर सम्पर्क से एक–दूसरे के विचारों के आदान–प्रदान के साथ दूसरों के द्वारा विकसित की गयी तकनीक तथा कला–कौशल को भी जानने का अवसर मिला। इसी क्रम में मानव की आवश्यकताओं में धीरे–धीरे विस्तार होता गया तथा परस्पर निर्भरता बढ़ती गयी, जिसके परिणामस्वरूप विनिमय की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। प्राचीन भारतीय इतिहास की आर्थिक प्रणाली के संचालन में विनिमय की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विनिमय का इतिहास भी निरन्तरता एवं परिवर्तन के साथ क्रमशः विकासोन्मुखी रहा है। प्रारम्भिक काल में यह स्वैच्छिक आधार पर सम्पादित होता था परन्तु निश्चय ही ऐतिहासिक काल में इनके सम्पादन में वैधानिकता के तत्वों के जुड़ने से यह सैद्धान्तिक स्वरूप ग्रहण कर पाया। प्राचीन भारतीय इतिहास के निरूपण के लिए जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनमें विनिमय प्रणाली विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। विनिमय पद्धति के द्वारा ही किसी समाज की आर्थिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। प्राचीन काल में विनिमय हेतु पत्थर, चमड़े, सुवर्ण, रजत, ताम्र धातुएँ, कौड़ियों आदि का प्रयोग किया जाता था। आकार में अत्यन्त छोटी होने के कारण ये वस्तुएँ बहुत अधिक सूचनाएँ प्रदान नहीं करतीं परन्तु विनिमय के सन्दर्भ में इनसे पर्याप्त जानकारी मिलती है तथा इतिहास–निरूपण में भी इसकी अहम भूमिका है।

किसी भी समाज में अर्थव्यवस्था उसकी रीढ़ की तरह होती है तथा अर्थव्यवस्था में गति विनिमय के साधनों में हुए विकास से मिलती है। यह सिद्धान्त प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक बना हुआ है। आज जब क्रय और विक्रय तथा तत्सम्बन्धी गतिविधियों का हम सम्पादन करते हैं तो यह नहीं सोचते कि इस व्यवस्था की शुरुआत कैसे हुई होगी? इस नवीन आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि प्राचीन भारतीय विनिमय प्रणाली की प्रकृति क्या रही होगी? विनिमय प्रणाली में व्यापार और आदान–प्रदान की प्रक्रिया एक आवश्यक मुद्रा की भूमिका तथा स्थायी माध्यम के रूप में विनिमय सम्बन्धी कार्यों में इसकी जाँच भी आवश्यक है। प्रारम्भिक पूर्व पाषाणकालीन मानव के जीवन पर प्रकाश डालने वाले बहुत कम तथ्य ज्ञात है। भारत में दक्षिण में केरल प्रदेश तथा उत्तरी भारत में गंगा के मैदानी भाग को छोड़कर लगभग सभी प्रदेशों में प्रारम्भिक पूर्वपाषाणकालीन पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। इस संस्कृति के पोषक आदिमानव ऐसे पहाड़ी अथवा पठारी भाग पर निवास करते थे, जहाँ सघन जंगल अथवा वनस्पतियाँ एवं आस–पास जलाशय विद्यमान थे। इनके उपकरण मुख्यतः काटने के लिए, खुरचने के लिए तथा खोदने के लिए थे। मध्य–पूर्व पाषाणकाल में मानव प्रारम्भिक पूर्व पाषाणकाल की अपेक्षा किंचित लघु उपकरणों का निर्माण करने लगा था। ये उपकरण तेज धार वाले आकार के लघु तथा अनेक कार्यों के लिए प्रयोजनीय थे। मानव अभी तक कृषि से अपरिचित थे और पशुपालन करके अतिरिक्त खाद्य सामग्री जैसे दूध और मांस इत्यादि का उत्पादन करना नहीं जानते थे। इस काल के मानव के कुछ जीवाष्म अवशेष इस बात का संकेत देते हैं कि तत्कालीन समाज में आपसी सहयोग एवं परस्पर निर्भरता की भावना का विकास हो चुका था। परवर्ती पूर्व पाषाणकाल में मानव समाज का गठन पूर्ववर्ती कालों से अधिक प्रभावशाली लगता है। उनका

सांस्कृतिक पक्ष अब बहुआयामी हो गया था। इनके उपकरणों में पहले की अपेक्षा अधिक विविधता मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि विविधता में विशिष्टता का समावेश हो गया था। आर्थिक दृष्टि से परवर्ती–पूर्व पाषाणकालीन मानव अपने पूवर्जों के समान कृषि और पशुपालन से अपरिचित था। उसकी आजीविका भी पूर्व की तरह शिकार करने, फल और कन्दमूल का संग्रह करने और मछली पकड़ने पर निर्भर थी। लेकिन अब वह नवीन हथियारों जैसे धनुष–बाण की सहायता से अधिक खाद्य सामग्री का संग्रह कर सकता था।

यह स्पष्ट है कि पाषाणकाल में मनुष्य के जीने का साधन वस्तुतः शिकार और खाद्य संग्रह ही था, इसका खाद्य

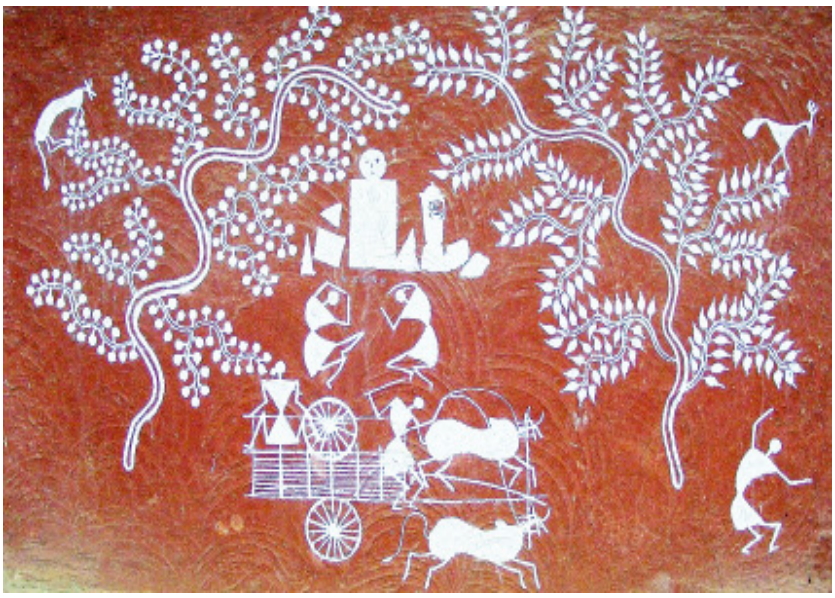

उत्पादन से कोई मतलब नहीं था। हांलाकि यह सुझाया जाता है कि कुछ मात्रा में व्यापार इस काल में भी होता था। जो कि उपकरण बनाने हेतु प्रयोग में लाए जाने वाले पत्थरों के लिए होता था। उपलब्ध साक्ष्यों के अभाव में इसकी प्रकृति का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस समय तक आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल नहीं थी कि एक समूह दूसरे समूह पर निर्भर रहता। दैनिक जीवन में तत्समय में किसी प्रकार की विनिमय की आवश्यकता न थी। इन विवरणों के आधार पर यह नहीं है कि प्रत्येक समूह दूसरे समूहों से पृथक जीवन व्यतीत करता था। हमें ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जो दूरस्थ समूहों में वस्तुओं के आदान–प्रदान की सूचना देते हैं। उदाहरणार्थ भूमध्य सागर में प्राप्त होने वाली सीपियाँ, कौड़ियाँ तथा सामुद्रिक मछलियों की हड्डियाँ मध्य फ्रांस में मैग्डेलेनियनयुगीन अवशेषों के साथ मिलती है। इससे स्पष्ट है कि समुद्रतट के समीप रहने वाले समूह मध्य फ्रांस के समूहों से वस्तुओं का आदान–प्रदान करते रहते थे। जलवायु एवं भूतात्विक विश्वव्यापी परिवर्तनों ने मध्य पाषाणकालीन मानव को भी यथेष्ट रूप से प्रभावित किया तथा बदलती हुई परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने के लिए उसे अपने उपकरणों को भी यथेष्ट रूप से परिवर्तित करना पड़ा। हालांकि मध्य पाषाणयुगीन मानव का जीवन आखेट एवं संचय पर आधारित था। आखेट की खोज में ये संचरणशील जीवन व्यतीत करते थे। जिन क्षेत्रों में खाद्यान्न दुर्लभ थे उनमें इनके जीवन का मूलाधार आखेट था। खाद्य सामग्री में वृद्धि हुई फलतः मनुष्य ही नहीं अपितु अन्य जीव–जन्तुओं की संख्या में पूर्व कालों की तुलना में विशेष उन्नति हुई। इस पर्यावरणीय बदलाव का प्रभाव इस काल के मानव जीवन एवं उसकी आहार पद्धति पर पड़ना स्वाभाविक था। लम्बी घासों एवं जंगलों में पाए जाने वाले पशुओं का आखेट तथा उनका मांस भक्षण इस काल के मानव–भोजन का प्रमुख भाग था। इसके अतिरिक्त वे कन्दमूल, फल, मीठी एवं कोमल पत्तियाँ तथा जड़े आदि का भी भोजन सामग्री के रूप में प्रयोग करते थे। अष्टाध्यायी में निष्क सिक्के का भी उल्लेख हुआ है। सूत्र में दो निष्क और तीन निष्क से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए द्विनैष्किक, त्रिनैष्किक शब्द का प्रयोग हुआ है। यह स्थिति 5 वीं शती ई.पू. में थी। एक अन्य सूत्र में सौ निष्क और हजार निष्क की पूँजी वाले व्यक्ति के लिए नैष्कशतिक और नैष्कसाहस्त्रिक शब्दों का प्रयोग है। पाणिनी के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वैदिककाल में स्वर्ण निष्क सिक्कों और आभूषण दोनों रूपों में प्रयुक्त होते थे। महाभारत में भी निष्कशत और निष्कसाहस्त्र रूप में धन की दो कोटियों का एक ही श्लोक में उल्लेख हुआ है। लेकिन निष्क शब्द का धन के रूप में प्रयोग पाणिनी से भी बहुत प्राचीन था। शतपथ ब्राह्मण में आरुणि ने उस व्यक्ति को एक सुवर्ण निष्क देने की घोषणा की थी जो उसे शास्त्रार्थ में जीत ले। ऋग्वेद में भी निष्क का उल्लेख है जिससे इसकी प्राचीनता और पहले जाती है। यहाँ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे साबित होता है कि निष्क का प्रयोग अलंकार, आभूषण एवं धन के रूप में ही किया जाता था। एक स्थल पर रुद्र शिव को निष्क धारण किए हुए उल्लिखित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में एक ऋषि अपने राजा से 10 अश्वों के बदले 10 निष्कों की याचना करता है। इन दोनों उद्धरणों से यह प्रामाणित होता है कि ऋग्वेद काल में निष्क का प्रयोग आभूषण एवं दान में किया गया था। निष्क को विश्वरूप भी कहा गया है जिसका अर्थ मुद्राशास्त्रियों के अनुसार जिस पर अनेक चिह्न या रूप अंकित थे। इस प्रकार सुवर्ण का कोई गोल टुकड़ा निष्क कहलाता था जो सम्भवतः आभूषण के काम में भी आता था। लेकिन महाभारत में जिस निष्क का वर्णन है वह आभूषण मात्र नहीं, बल्कि सिक्का अर्थात् निश्चित तोल का सोने का टुकड़ा हो गया था। महाभारत के सभा पर्व में वर्णन है कि विश्वकर्मा ने एक सहस्त्र निष्क से एक शंख बनाया था जिसे समुद्र ने वरुण की ओर से युधिष्ठिर को भेंट में दिया था।

उज्जयिनी का शैक्षणिक परिवेश और परंपरा

चंद्रशेखर शर्मा

उज्जैन भारत की सप्तपुरियों में से एक है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक महाकाल का यह आवास है। श्रीकृष्ण की विद्यास्थली है। सांदीपनि की तपोभूमि है। यहाँ ऋषियों की परंपरा रही। स्वाध्याय का क्षेत्र है। वेदाध्ययन ही नहीं, यहाँ रहकर विद्वानों ने वैदिक साहित्य पर भाष्य लिखकर अपनी क्षमता भी प्रदर्शित की है। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद समग्र भारतीय संस्कृति का मूल है। भारतीय ज्ञान विज्ञान, पुराण और स्मृतियों, धर्म और दर्शन जीवनदर्शन सब कुछ वेदमूलक रहे। बाद में कुछ वेदविरोधी धाराएँ भी पनपीं। तथापि भारत का मूल स्वर वैदिक परम्परा में ही निहित है। वैदिक परम्परा में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना यज्ञ के वेद अपूर्ण है। यज्ञ छोटा से छोटा भी हो सकता है और बड़ा से बड़ा भी। जब रसोई बनाती नारी रोटी बनाते ही सबसे पहले अग्नि को समर्पित करती है तब भी वही वैदिक परंपरा है और जब मनुष्य की मृत्यु पर शव अग्नि को समर्पित किया जाता है तब भी वह अन्त्येष्टि अर्थात् अंतिम यज्ञ ही है। अर्थात् समग्र जीवन ही यज्ञ को समर्पित है। इस वैदिक साहित्य का प्रसार अत्यन्त व्यापक है। संहिताएँ चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक की अनेक शाखाएँ हैं। सब मिलाकर इनकी संख्या एक हजार एक सौ तीस थी। पर आज 9 पूर्णतया एवं 2 आंशिक प्राप्त हैं। दो के केवल नाम ज्ञात है। शेष सब काल के गाल में समा गये। इन शाखाओं के अपने अपने ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष), अनुक्रमणी प्रातिशाख्य आदि हैं। इस विपुल ग्रन्थ सम्पदा की भाष्य और टीकाएँ हैं। यह सब मिलाकर व्यापक और विपुल साहित्य सम्पदा तैयार होती है उसे सम्हालना किसी एक के बस का नहीं है। फिर आधुनिक विद्वानों ने जो इनके मंत्र, नाम, शब्द, कथा आदि के आधार पर अनुक्रम और इतिहास तैयार किये हैं उनसे तो वैदिक साहित्य के अध्ययन की व्यापकता ही बढ़ी है। वास्तव में आज इस समग्र साहित्य को एकत्र सम्हालना एक संस्था के द्वारा असंभव है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के सुविस्त्रित शतपथ ब्राह्मण पर मसायन के राजा हर्ष विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने 638 ई. श्रुतिविवृत्ति नामक सम्मिश्र तथा श्रौतपांडित्यपूर्ण भाष्य की रचना की गई थी। यह पूर्णतः प्राप्त है। उव्वट ने शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य पर भाष्य लिखा था। राजा भोज के समय उसने उज्जैन में रहते हुए शुक्ल यजुर्वेद पर मंत्रभाष्य रचा था। उज्जैन की परम्परा शुक्ल यजुर्वेद की ही है। परन्तु ऋग्वेद के विद्वान भी यहाँ सुलभ हैं। वैदिक संहिताओं के मंत्रों, पदों, अक्षरों और मात्राओं की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्थाएँ की गयी हैं। इनमें से विविध पाठ भी हैं। तथा संहिता पाठ, पद पाठ, क्रम

पाठ, जटापाठ, शिखा पाठ, घन पाठ आदि। इन विविध पाठों में जटिलता बढ़ती ही जाती है। इसलिए इनमें संहिता पूरी तरह सुरक्षित रहती है। अब इन पाठों के जानकार पाठक दुर्लभ होते जा रहे हैं। इसलिए भी आज इनको रक्षा की आवश्यकता अधिक है। यह हमारी पारंपरिक विधि है जो परंपरा से ही, परिश्रम से ही अर्जित की जा सकती है। आज तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि वैदिक गणित आधुनिक गणित की जटिल प्रक्रिया की अपेक्षा सरल और सुगम है। प्रदूषण की स्थिति में वैदिक यज्ञों के द्वारा वातावरण की शुद्धता भी संभव है। उज्जैन के निकट चंबल के तट के दंगवाड़ा ग्राम से तो हजारों वर्ष प्राचीन यज्ञावशेष भी मिले हैं। वैदिक साहित्य में परवर्ती ज्ञान–विज्ञान के कई सूत्र छिपे पड़े हैं। जिन्हें खोजकर हम अपनी अस्मिता में वृद्धि कर सकते हैं, अपनी परम्पराओं को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। उस सोमलता का अन्वेषण और पहचान शेष है जिसके बिना सोमयाग पूरा नहीं होता था और जिस सोम के आचमन के लिए देवता भी लालायित रहते थे। कहते हैं वह लता हिन्दुकुश पर्वत पर होती थी।

वेदों के मंत्रों में प्रकृति की उपासना है। प्रकृति के विविध रूपों की जितनी अगाध निष्ठा से वेदों में उपासना की गयी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हम प्रकृति के अंग हैं। प्रकृति से कट कर हमारा अस्तित्व नहीं है। वेदों को जानना प्रकृति को जानना है। उज्जयिनी ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक नगरी

है। यहाँ संस्कृत के विविध विद्वानों की सुदीर्घ परंपरा रही है। कालिदास जैसे विश्वविश्रुत वैदिक निष्ठा से सम्बद्ध थे, जिन्होंने ऋक छन्द तक की रचना कर अपना ऋषित्व सिद्ध किया था।

इस पारंपरिक नगरी में, इस तीर्थ नगरी में, इस पौराणिक नगरी में वेद का एक भव्य केन्द्र होना आवश्यक है। इससे वैदिक साहित्य के अध्ययन को एक सशक्त भूमिका प्राप्त होगी, वहीं नगरी को अपने पर्यावरण के अनुकूल सक्षम दिशा भी। इस नगरी में महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान का स्वागत है और उससे प्रदेश व देश की जनता की अपेक्षा होगी कि वह सतत् अपने लक्ष्य पर अग्रसर होगी। उज्जैन विभिन्न सिद्धियों का सिद्ध स्थान है। अतः तंत्रागम के व्यापक, सूक्ष्म अध्ययन प्रकाशन का यह प्रमुख केन्द्र भी बन सकता है।

संस्कृत शिक्षा उज्जयिनी मध्यप्रदेश की सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक नगरी है। इसके सस्कृति को सँवारने में सदियों सहस्राब्दियों का योगदान रहा है। भारतीय प्राचीन भाषा के अनुरूप ही यहाँ की प्राचीन भाषा भी संस्कृत रही। यह संस्कृत उज्जैन के परिसर की जनभाषा थी। कहते हैं– साहसांक विक्रमादित्य के समय सभी संस्कृत भाषी थे। यहाँ तक कि उसका रनिवास भी संस्कृत में ही बातचीत करता था। वरना तब का रनिवास तो प्राकृत में बात करता था। इस सबकी पृष्ठभूमि है। इस नगरी की पौराणिक महत्ता। सांदीपनि जैसे निष्णात आचार्य का आश्रम यहीं था। जहाँ दूर–दूर से आकर श्रीकृष्ण–बलराम–सुदामा जैसे विख्यात शिष्यों ने शिक्षा पायी। फिर विक्रमादित्य जैसे यहाँ साहित्यिक, सांस्कृतिक रुचि के राजा हो गए, जिनकी सभा में कालिदास आदि नवरत्न रहे, जो अपनी–अपनी विद्या में अग्रणी रहे। इस नगरी में शिप्रा तट पर एक विद्यापीठ की कल्पना बाणभट्ट ने की थी। उसका विशद वर्णन उनकी कादम्बरी में मिलता है। यहाँ भिन्न–भिन्न विद्याओं में निष्णात देश के कोने–कोने से बुलाए गए आचार्य अपने योग्य शिष्य को विद्यादान करते थे। यहाँ शस्त्र तथा शास्त्र दोनों की विद्या दी जाती थी। यहाँ एक बार भर्ती होने के बाद छात्र विद्या पूर्ण करके ही घर लौटता था, बीच में नहीं। चाहे उसे 10 वर्ष लग जाएँ या अधिक। वहीं उसे विद्यालय के आधार का सूक्ष्म विवरण प्राप्त होता है। राजा भोज के युग में राजधानी धार के साथ ही उज्जैन में भी सरस्वती सदन था। यह कामसूत्र में दिए निर्देश के अनुसार था। यहाँ अध्ययन, अध्यापन तो होता ही था, साथ ही विशाल पुस्तकालय भी था और विद्वानों का आवागमन भी। उसमें नाट्य प्रदर्शन होते और कलाकारों का सम्मान होता था। इस पूरी परम्परा के अनुसार ही, इस नगरी को वही सांस्कृतिक वैभव प्रदान करने की दिशा में कुछ प्रयास तो हो ही रहे हैं। यहाँ कई पारम्परिक पुस्तकालय हैं। सिंधिया प्राच्य शोध प्रतिष्ठान उनमें प्रथम है। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, वाकणकर शोध संस्थान, माधव महाविद्यालय, दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन पुस्तकालय आदि के साथ ही निजी संग्रहों की भी यहाँ कमी नहीं है। संस्कृत में स्नातकोत्तर अध्यापन शोध तो यहाँ होता ही है। कालिदास अकादमी जैसे साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्थान भी है। केन्द्रीय महर्षि सांदीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान और महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय की स्थापना भी यहाँ हो गयी है। संस्कृत महाविद्यालय, आर्य समाज आदि वे स्थान है, जहाँ वह पारम्परिक विद्यादान का वातावरण पाया जा सकता है।

ऐसे सुदृढ पारम्परिक परिवेश से सम्पन्न इस उज्जयिनी नगरी में संस्कृत शिक्षा के नये आयाम खुलते हैं, तो उस दिशा में और प्रगति होगी व पारंपरिक विद्या को और प्रश्रय प्राप्त होगा। अन्य संस्थाएँ भी उस दिशा में प्रयास कर उस लक्ष्य को पूर्ण करने में सहयोग कर सकती हैं। अब कई वैदिक पाठशालाएँ भी उज्जैन में वेद और संस्कृत परम्परा के पुनरुज्जीवन के लिए सतत् सक्रिय हैं। जैसे सूरज के सात घोड़े जैसे विवाह में सात फेरे उसी प्रकार भारत की सात नदियाँ, सप्त–सिन्धु, सप्त पर्वत और सात पुरियों। ये अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्ती और द्वारिका आदि से इन सप्त पुरियों के सांस्कृतिक अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। ये वे नगरियाँ हैं जिनकी महनीय उदात्तता से सांस्कृतिक गरिमा से सम्पूर्ण भारत एक सूत्र में आबद्ध होता है। ये नगरियों इस देश की अस्मिता की पहचान है। इनमें से मथुरा, अवन्तिका और द्वारिका इन तीनों नगरियों के त्रिकोण में द्वापर के भगवान श्रीकृष्ण की जीवन गाथा के संदर्भ अनुगुम्फित हैं। मथुरा से अवन्तिका तक का पूरा क्षेत्र एक ही सांस्कृतिक प्रवाह को प्रकट करता है। इनके आरम्भिक संकेत भी प्रायः कुछ ही आगे पीछे प्राप्त होते हैं। उज्जयिनी हैहयों के युग की है तो मथुरा शत्रुघ्न के समय की मथुरा में कृष्ण का बचपन बीता। उज्जैन में उनका अध्ययन हुआ और द्वारिका उनकी कर्मस्थली रही। मथुरा ने वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्पराओं की जो धार्मिक एवं कलागत समृद्धि अर्जित की वह सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में विलक्षण है। मथुरा कला की तो अपनी शैलीगत विशेषता के कारण पृथक् पहचान भी रहती है। मथुरा और उज्जैन की पारम्परिक सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण ही अठारहवीं सदी के प्रथम चरण में जयपुर के ज्योतिर्विद् नरेश जयसिंह ने मथुरा और उज्जैन दोनों ही स्थानों पर वेधशालाओं का निर्माण करवाया था जो आज तक देखी परखी जा सकती है। उज्जैन की वेधशाला तो आज तक सक्रिय है। किसी समय मथुरा से मालवा तक नागशक्ति की पताका फहराती थी जिसकी पुष्टि सिक्कों, प्रतिमाओं और प्राचीन सन्दर्भों से होती है। उन दुर्धर्ष नागों से लोहा लेकर उन्हें पराजित करने के कारण गुप्तों और मालवा के परमारों ने अपना राजकीय चिह्न नागध्वंसक गरुड रखा था। श्रीमद्भागवत और उसके अनुसरण में विविध वैष्णव धाराओं के प्रवाह में प्रचलित प्रयास विविध कवियों और काव्यों की जो ललित रस धाराएँ प्रवाहित हुई, संस्कृत, मैथिल, ब्रज आदि भाषाओं में, उनसे तो पूरा भारत ही भीतर–भीतर भीग–भीग कर आनन्द विमोर होता रहा। सम्पूर्ण भारत की भिन्न भाषाओं और धर्मों के रसिकजनों का रचना प्रवाह श्रीकृष्ण की ओर मुड़ चला।

शैव विश्व का प्राचीनतम धर्म

नीलकंठ अग्निहोत्री

शिव से सम्बन्धित धर्म को शैव धर्म कहा गया तथा इस धर्म के भक्तों और अनुयायियों को शैव। शैव धर्मावलंबियों के प्रधान इष्टदेव भगवान शिव हैं। यह उत्तर वैदिककालीन नाम है। विष्णु की तरह उनके अवतारों की कल्पना नहीं की गई न ही उनका विकास अवतारवाद के आधार पर हुआ, बल्कि उनका विकास रुद्र से शिवम् के रूप में हुआ। शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। नवपाषाण युग की अनेक जातियों में भूमि की उर्वरता के लिए लिंग–पूजा की जाती थी। गुडिमल्लम और भीटा से ऐसे लिंग प्राप्त हुए हैं जिनपर मनुष्य की आकृति में देवता अंकित हैं। कुछ लोगों ने उनकी प्राचीनता की खोज सैंधव सभ्यता में की और यह कहा कि वहाँ से प्राप्त मुहरों पर श्रृंगधारी मानवाकार बैठे हुए देवता पाशुपत शिव हैं और उनका प्रतीक लिंग भी चित्रित है जिनके चारों ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे हैं। शिव का एक दूसरा चित्र ताम्रपट पर मिला है जिसमें वे यात्री के रूप में दर्शित हैं तथा उनके सम्मुख दो सर्प हैं और उनके गले में सर्प की माला है। सिंधु संभ्यता के अवशेषों में छोटे–छोटे अनेक लिंग मिले हैं। अगर इस मत को ठीक मान लिया जाय तो शैव धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म हो जाएगा। किन्तु तारतम्य और श्रृंखला के अभाव में यह मत स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं। ऋग्वेद में शिव के लिए रुद्र नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रुद्रता के लिए ख्यात हैं। वे अपनी भयंकर और विनाशक शक्ति से मनुष्य और पशु दोनों को विनष्ट कर देते हैं। उनकी क्रुद्ध और प्रलयकारी शक्ति से महामारियाँ फैल जाती तथा घर के घर उजड़ जाते हैं। अतः उनकी विध्वंसकारी शक्ति से बचने के लिए ऋग्वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति और वन्दना प्रारम्भ की, जिससे वे प्रसन्न रहें और अपनी विनाशक शक्ति से मनुष्य को कष्ट न दें। ऋग्वेद के विवरण के अनुसार ननके द्वारा फेंके गये बाण तीव्र रूप से स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं। वे अपने अस्त्र से मनुष्य को हत्त करते हैं। अतः ऋषियों ने उनकी प्रार्थना की कि वे अपने आयुधों को दूर रखें तथा द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करें। इस प्रार्थना द्वारा रुद्र के विनाश से लोग बच जाते थे। फलस्वरूप वे उन्हें पशुपति अथवा पशुओं का रक्षक कहते थे। ऋग्वेद से विदित होता है कि उनकी उपाधि पशुपति थी। लोग उनकी पूजा करते तथा आशा करते थे कि लोगों की विभिन्न रोगों से मुक्ति मिलेगी। रुद्र के पास सहस्त्रों औषधियाँ थी, जिनके कारण रोगों से छुटकारा पाना सरल था। उत्तर वैदिककाल में रुद्र का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ। उन्हें 'शतःद्रिय' और 'शिवातनुः' (मंगलमय) कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हें 'गिरिश' और 'गिरित्र' नाम से अभिहित किया गया। उन्हें पशुओं

का स्वामी कहा गया, जो 'पशुपति' (पशूनाम् पतिः) के रूप में उनका विशिष्ट नाम हो गया। धीरे–धीरे रुद्र की व्यापकता बढ़ती गई तथा समाज में उनका विस्तार होता गया। दिशाओं के पति (स्वामी) के रूप में भी उनका स्थान बनता गया। 'कपर्दिन्' (जिनकी ज्वालाएँ कपर्दो की तरह थीं) की संज्ञा देकर उन्हें अग्नि से अभिन्न माना गया। उनकी उग्रता जब शांत हो जाती थी तब उन्हें 'शम्भु', 'शंकर' और 'शिव' नामों से अभिहित किया जाता था। चर्म धारण करने के कारण वे 'कृर्तिवासनः' के रूप में ख्यात थे। उन्हें 'शर्व–भव' भी कहा गया। सम्भवतः निषाद आदि अनार्यों से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म–परिधान धारण करनेवाला माना गया था। रुद्र से अनेक रुद्रों को उद्‌भूत माना गया था, जो उनकी व्यापकता व्यंजित करता है। इसलिए इन रुद्रों को गणपति, कर्मकार, कुम्भकार, रथकार, तक्षक और निषादों के पति (स्वामी) के रूप में स्वीकार किया गया। लगता है, उपर्युक्त वर्गों और अनार्य जातियों के वे उपास्य और आराध्य देव थे। इसी युग में आर्य रुद्र का आर्येतर शिव के साथ समीकरण हुआ। शतरुद्रिय से स्पष्ट होता है कि रुद्र अथया शिव मनुष्यों की बस्ती से दूर रहते थे। यह चोरों, डाकुओं और ग्रात्यों के पूज्य देवता थे। यजुर्वेद में वर्णित है कि

शिव का सम्बंध आर्य संस्कृति से नहीं, केवल अनार्य लोगों से था। गणपति, तक्षा, निपाश, रूप के गण आदि ऐसे पर्याय रुद्र के लिए व्यवहुत हुए हैं, जो उनकी अनार्य जातियों से समीपता दृढ़ करते हैं। अथर्ववेद के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि देवताओं ने महादेव (पशुपति, शर्व, धनुर्धर भव, रुद्र, उग्र) को विभिन्न दिशाओं के स्रात्यों का स्वामी नियुक्त किया था। समाज में रुद्र की महत्ता, विशिष्टता और उत्कृष्टता बढ़ती गई। द्विपद और चतुष्पद के शासक के रूप में उनको भी स्वीकार किया गया। उनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था तथा इनका आयाम बहुत बड़ा था। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में उन्हें 'सहस्राक्ष' कहा गया था। निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थ उन्हीं के थे, साथ ही वे समग्र धनुर्धरों में श्रेष्ठ थे। उनका आघात सभी देवताओं और मनुष्यों को आहत कर सकता था। अतः उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए उनकी आराधना की जाती थी। रुद्र सर्वत्र था जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त भूतों में। आकाश और अन्तरिक्ष का वह स्वामी था। वह 'भूतपति' और 'पशुपति' था। पशुपति के रूप में उसके अधीन पाँच प्रकार के पशु थे गौ, अश्व, मनुष्य, अजा और भेड़। उनकी आराधना करते हुए कहा गया कि वे विनाश, विष और अग्नि से रक्षा करें। अथर्ववेद में उन्हें भव, स्वर्ग और पृथ्वी का ईश कहा गया तथा भव, शर्व और रुद्र (पशुपति) के बाण को 'सदाशिव' बनने के लिए कामना व्यक्त की गई। उनकी उपस्थिति आकाश, पृथ्वी अन्तरिक्ष और दिशाओं में, सर्वत्र मानी गई थी। सूत्र ग्रंथों में भी रुद्र की अपनी अलग विशिष्टता है तथा उनके विवरण से यह प्रामाणित होता है कि उनका अनार्य तत्वों पर प्रभाव था। उनको प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई थी जो ग्राम की सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम में नहीं लायी जाती थी। उनके बारह नामों के साथ उनकी स्तुति की जाती थी। उन बारह नामों में 'अशनि' को छोड़कर पूर्ववर्ती सात नाम थे तथा पाँच और नाम संयुक्त किये गए थे, जो इस प्रकार हैं– हर, मृड, शिव, भीम और शंकर। उनके साथ इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणि और भवानी नामक चार पत्नियाँ भी जोड़ दी गई और उनके लिए भी आहुति की व्यवस्था की गई। मार्ग को पार करते समय, चतुष्पथ पर पहुँचते समय, नदी पार करते समय, नाव पर आरूढ़ होते समय, पर्वत, श्मशान और गोशाला जैसे स्थानों के मध्य से जाते समय अपने सुरक्षार्थ रुद्र की उपासना की जाती तथा मन्त्र का जप किया जाता था। स्पष्ट है, रुद्र एक विशिष्ट देवता के रूप में विकसित हो रहे थे, जिनकी आराधना समाज में निरन्तर की जाती थी। नदी, पर्वत–प्रदेश, मैदान, श्मशान, गोशाला आदि स्थानों से जाते समय उनका स्मरण किया जाता था। अतः वे विभिन्न प्रकृतियों के देवता थे, जिनका प्रसन्न रहना मनुष्यों के लिए आवश्यक था। श्वेताश्वतर, अथर्वशिरस् जैसे उपनिपदों में शिव के दर्शन और ज्ञान–तत्व की मीमांसा की गई है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति–तत्वों से स्थापित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में उनकी एकता शिव से स्थापित की गई है। उन्हें सर्वोच्च देव का पद प्राप्त था। इस युग तक रुद्र–शिव की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, किन्तु उनकी पत्नी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केन उपनिषद् में उमा का नाम अवश्य मिलता है, किन्तु वह रुद्र की पत्नीं नहीं है, वह हिमवान की पुत्री 'हैमवती' है। श्वेताश्वतर उपनिषद् से सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतर ऋषि भक्ति के वशीभूत होकर रुद्र की शरण में गये थे। महाभारत में शिव का उल्लेख सर्वोच्च और शक्तिशाली देवता के रूप में हुआ, जिनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पड़ा था। वहाँ उन्होंने किरात के वेश में रह रहे शिव की वास्तविकता को समझे बिना उनसे युद्ध किया, किन्तु वे परास्त होकर भूमि पर पड़ गए। इसके बाद उन्होंने मृत्तिका की वेदी बनाकर शिव की आराधना की और देखा कि जो पुष्प उन्होंने अर्पित किया था वह किरात के सिर पर रखा हुआ है। तब उन्होंने शिव को पहचानकर अपने को उनके चरणों में शरणागत किया।

गुप्त काल में शैव धार्म का उत्कर्ष तीव्र गति से हुआ। गुप्त सम्राटों के वैष्णव धर्मावलम्बी होने के बाद भी उनकी धर्म सहिष्णुता की भावना से शैव धर्म का समाज में यथोचित प्रसार हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का मंत्री वीरसेन शैव धर्मावलम्बी था। कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीसेन ने शिव मन्दिर को दान प्रदान किया था, जिसका उल्लेख करमदण्डा अभिलेख में हुआ है। स्कन्दगुप्त का अधीनस्थ सामन्त महाराज हस्तिन शिवोपासक था। स्कन्दगुप्त के बैल–प्रकार के सिक्के उसकी शैव धर्म के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। वस्तुतः शैव धर्म के इस प्रसार का प्रारंभ शुंग–सातवाहन काल से हुआ जो गुप्त काल में चरम परिणति पर पहुँचा। उस युग में अनेकानेक शैव मन्दिरों के निर्माण के साथ शिव की महिमा से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की भी रचना हुई। साहित्यिक रचना के क्षेत्र में कालिदास का शीर्षस्थ स्थान है, जिन्होंने 'कुमार संभव' नामक महाकाव्य की रचना करके शैव धर्म की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। 'कुमार संभव' में शिव के चरित्र, महिमा और गुणों का वर्णन है। इस कृति के अतिरिक्त महाकवि की अन्य कृतियों में शिव के विभिन स्वरूपों, मतों और सिद्धांतों का उल्लेख है। महेश्वर, ईश, ईश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्ति, वृषभध्वज, शूलभूत, पशुपति, त्र्यंबक, त्रिनेल, स्थाणु, अयुग्मनेत्र, नीलकण्ठ, नीललोहित, शितिकण्ठ, चण्डेश्वर, विश्वेश्वर, शंभु, हर, गिरीश, महाकाल, भूतेश्वर, शिव, शंकर, पिनाकी आदि नामों से शिव का उल्लेख हुआ है। लिनेत्र, स्थाणु, अयुग्मनेत्र, नीलकण्ठ, नीललोहित, शितिकण्ठ, चण्डेश्वर, विश्वश्वर, शभु, हर, गिरीश, महाकाल, भूतेश्वर, शिव, शंकर, पिनाकी आदि नामों से शिव का उल्लेख हुआ है। कालिदास के साहित्य में गोकर्ण के शिव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के महाकाल ज्योतिर्लिंग का संकेत है। जल, पावक, शक्ति, गगन, समीर, सूर्य, चन्द्र (मन, पिंड) अर्थात् प्रकृति की संयुक्तता से शिव की अष्टमूर्ति का निर्माण हुआ था। ये जगत्स्रष्टा के रूप में पूजित थे और इन्हें ही सृष्टि भी कहा गया है।

प्राचीन शिलालेखों में भाषा और अक्षर

एन.के. शर्मा

अशोक के शिलालेख ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में उत्तरी भारतवर्ष की भाषा और अक्षरों के जानने के लिए अमूल्य हैं। ये सूचनाएँ निःसन्देह उसी भाषा में हैं जिसको कि अशोक के समय में लोग बोलते और समझते थे। इन सूचनाओं के ऐसी बोलियों में होने से जिनमें कि भारतवर्ष के भिन्न–भिन्न भागों में एक दूसरों से बहुत कम अन्तर है, विदित होता है कि इस बड़े सम्राट ने अपने विस्तृत राज्य के अलग–अलग भागों में अपने नियमों को उसी बोली में प्रकाशित किया है, जो देश के उस भाग में बोली जाती थी। इन शिलालेखों से विदित होता है कि उत्तरी भारतवर्ष की भाषा हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत तक और सिन्धु से लेकर गंगा तक मुख्यतः एक ही थी। परन्तु इनमें बहुत थोड़े भेद हैं जिनसे कि पुरातत्ववेत्ताओं ने यह जाना है कि उस समय में तीन प्रकार की भाषाएँ बोली जाती थी। जनरल कनिंघम इन्हें पंजाबी अथवा परिचमो भाषा, उज्जैनी अथवा बीच के देश की भाषा और मागधी अथवा पूर्वी भाषा के नाम से पुकारते हैं। पंजाबी भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से बहुत मिलता है। उसमें प्रियदर्शी श्रमन इत्यादि शब्दों में 'र' रहता है, उसमें संस्कृत 'स श ष' भी रहते हैं और उसके रूप संस्कृत के रूपों से अधिक मिलते हैं। उज्जैनी भाषा में 'र' और 'ब' दोनों होते हैं, परन्तु मागधी भाषा में 'र' का लोप होकर उसके स्थान पर सदा 'ल' बोला बाता है यथा राजा के स्थान पर लाजा, दशरथ के स्थान पर दशलथ इत्यादि। इन तीनों भाषाओं को एक मान कर पुरातत्ववेत्ता लोगों ने इस भाषा को पाली समझा है।

प्रिन्सेप कहते हैं कि यह भाषा संस्कृत और पाली के बीच को है। विल्सन ने चट्टान के शिलालेखों के चार भिन्न पाठों की ध्यान पूर्वक परीक्षा कीं है और उन्होंने अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है यह भाषा स्वयं एक प्रकार की पाली है और उसमें अधिकांश शब्दों के रूप आज कल की पाली व्याकरण के रूपों के सदृश है। परन्तु उनमें बहुत से भेद भी हैं जिनमें से कुछ तो उस भाषा के संस्कृत के साथ अधिक सम्बन्ध होने के कारण हैं और कुछ स्थानिक विशेषताओं कारण, जिससे कि इस भाषा की और भी अनिश्चित दशा विदित होती है। लोग वैदिककाल की भाषा को जानते हैं वो ऋग्वेद के सबसे सादे और सुन्दर सूत्रों में रक्षित है। हम लोग ऐतिहासिक काव्य काल की भाषा भी जानते हैं जो कि गद्य ब्राह्मणों और आरण्यकों में रक्षित है। 1000 ई.पू. के उपारान्त बोलने और लिखने की भाषा में भेद बढ़ने लगा। विद्वतापूर्ण सूत्र प्राचीन व्याकरण की संस्कृत में बनाये जाते थे पर लोगों के बोलने की भाषा और जिस भाषा में गौतम ईसा के पहले छठीं शताब्दी में शिक्षा देता था वह अधिक सीधी और चंचल थी। वह भाषा क्या थी यह हमें अशोक की सूचनाओं से विदित होता है। क्योंकि ईसा के 477 वर्ष पहले से जब कि गौतम की मृत्यु हुई उसके 260 वर्ष पहले तक जब कि अशोक राज्य करता था, बोलने की भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हो सकता। अतएव तीसरे अर्थात् दार्शनिक काल की भाषा पाली की एक पूर्व रूप थी, हम उसे चाहे जिस नाम से (मागधी, इत्यादि) पुकारें। उत्तरी भारतवर्ष में चौथे अर्थात् बौद्ध काल में इसी भाषा के भिन्न–भिन्न रूप बोले जाते थे। पाँचवें अर्थात् पौराणिक काल में पाली भाषा में बहुत अधिक अन्तर हो गया और उससे उस दूसरी ही भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा बन गई जो कि इस काल के नाटकों में पायी जाती है। पाली की अपेक्षा प्राकृत के शब्दों के रूप में संस्कृत से बहुत अधिक भेद होता है और इतिहास से भी यह बात विदित है कि कालिदास की नायिकाओं के बोलने की भाषा अशोक के बोलने की भाषा से बहुत पीछे के समय की है।

पौराणिक काल के समाप्त होने पर एक दूसरा परिवर्तन हुआ और प्राकृत भाषा और भी बिगड़ कर उत्तरी भारतवर्ष में लगभग एक हजार ईस्वी पहुँचने तक हिन्दी हो गई। इस प्रकार यह देखा जायेगा कि 4000 वर्षों में उत्तरी भारतवर्ष की बोलने की भाषा में बड़े–बड़े परिवर्तन हुए हैं। भाषा का आरम्भ मानव की उत्पत्ति के साथ हुआ। शुरुआत में मानव ने सबसे पहले चित्रो के जरीये अपने भावों को व्यक्त किया। अपनी बातों को समझने के लिए चित्र–संकेतों के बाद मानव ने भाव–संकेतों के सहारा लिया। धीरे–धीरे विकास के गति बढ़ने के साथ ध्वनि का विकास हुआ। मानव अपने विचारों को ध्वनि के द्वारा एक दूसरे तक पहुँचा सकते थे। इस तरह भाषा का विकास होता गया। अक्षरों के प्रचलन ने मानव विकास को अभूतपूर्व गति दी तथा भाषा को शिखर तक पहुँचा दिया। मानव अब अपने विचारों और इतिहास को अक्षरों में सहज कर रख रखने लगा। भाषा और अक्षर एक दूसरे के पूरक है। कई लोग भाषा को अच्छी तरह बोल पाते है परन्तु उन्हें अक्षर में ढाल नही पाते है। ये लोग अपने विचारों को सहेज कर रख नही पाते और दूसरे के विचारों को पढ़ नही पाते जिस कारण ये एक सीमित जीवन जीते है। अक्षरों द्वारा लेखन कार्य भाषा का अटूट अंग है।

आज के दुनिया मे अक्षरों के बिना भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। वैदिक काल में वह ऋग्वेद की संस्कृत थी, और ऐतिहासिक काव्यकाल में भी वह ब्राह्मण की संस्कृत थी, दार्शनिक और बौद्ध कालों में वह पाली थी। पौराणिक काल में वह प्राकृत थी, और दसवीं शताब्दी में राजपूतों के उदय के समय से वह हिन्दी रही है। देवनागरी अक्षर, जिसमें कि अव संस्कृत लिखी जाती है, बहुत ही थोड़े समय के हैं। भारतवर्ष के सब से प्राचीन अक्षर जो कि अब तक मिले हैं, अशोक के शिला– लेख के अक्षर हैं जो कि ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में लिखे गए थे।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

विश्व में भारत के ज्ञानार्जन के बहु-विषयक केंद्र

भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिकता पर आधारित थी। शिक्षा, मुक्ति एवं आत्मबोध के साधन के रूप में थी। यह व्यक्ति के लिये नहीं बल्कि धर्म के लिये थी। भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विश्व इतिहास में प्राचीनतम है। वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासियों के लिये शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है तथा जीवन के विभिन्न कार्यों में यह हमारा मार्ग आलोकित करती है।

प्राचीन काल में शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया गया था। भारत 'विश्वगुरु' कहलाता था। विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा को प्रकाश स्रोत, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, ज्ञानचक्षु और तीसरा नेत्र आदि उपमाओं से विभूषित किया है। उस युग की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश है, उसी प्रकार व्यक्ति के समस्त संशयों और भ्रमों को दूर करने का साधन शिक्षा है। प्राचीन काल में इस बात पर बल दिया गया कि शिक्षा व्यक्ति को जीवन का यथार्थ दर्शन कराती है तथा इस योग्य बनाती है कि वह भवसागर की बाधाओं को पार करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सके जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक रूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्व साक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि, विप्र, वैघस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही। विद्यालय 'गुरुकुल', 'आचार्यकुल', 'गुरु गृह' इत्यादि नामों से विदित थे। आचार्य के कुल में निवास करता हुआ, गुरु सेवा और ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को 'आचार्य' और 'गुरु' कहा जाता था और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी। मंत्रों के द्रष्टा अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि अपनी अनुभूति और उसकी व्याख्या और प्रयोग को ब्रह्मचारी, अंतेवासी को देते थे। गुरु के उपदेश पर चलते हुए वेदग्रहण करनेवाले व्रतचारी श्रुतर्षि होते थे। वेदमंत्र कंठस्थ किए जाते थे। आचार्य स्वर से मंत्रों का परायण करते और ब्रह्मचारी उनको उसी प्रकार दोहराते चले जाते थे। इसके पश्चात् अर्थबोध कराया जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य था। स्त्रियों के लिए भी यह आवश्यक समझा जाता था। आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे। ऐसी विद्यार्थिनी ब्रह्मवादिनी कही जाती थी। लेखिका सहाना सिंह की पुस्तक "भारत की

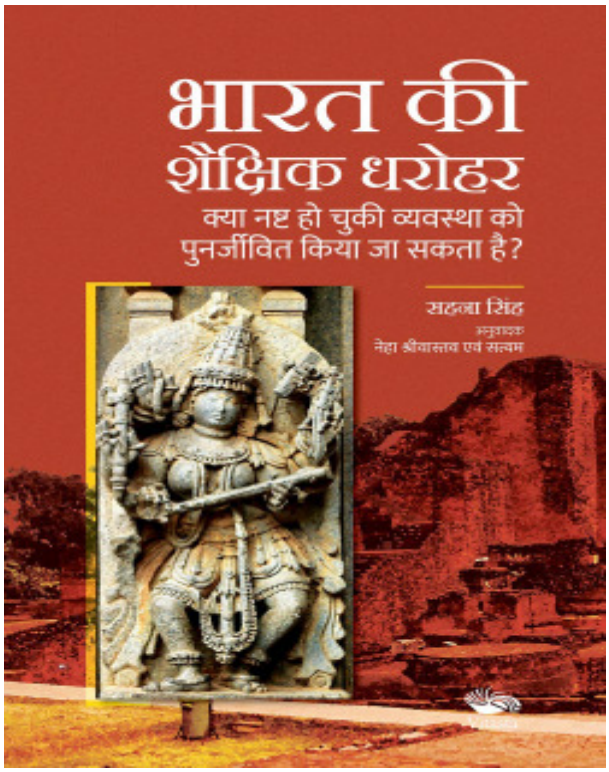

शैक्षिक धरोहर" नष्ट हो चुकी व्यवस्था का विश्लेषण करती है। यह पुस्तक उसे प्राचीन व्यवस्था को पुनर्जीवित करने की भी बात करती है। यूरोपीय विश्वविद्यालयों की स्थापना से बहुत पहले भारत में ज्ञानार्जन के बहु–विषयक केंद्र थे जिन्होंने विश्व भर में ज्ञान क्रांति को बढ़ावा दिया। यह पुस्तक भारत की महान् शैक्षिक विरासत को कालक्रमानुसार दर्शाने की आवश्यकता को पूरा करती है। यह पुस्तक उस अद्वितीय पारिस्थितिकी तंत्र का वर्णन करती है, जिसने यह सुनिश्चित किया कि गुरुओं और आचार्यों द्वारा पीढ़ियों तक छात्रों को ज्ञानार्जन का सौभाग्य मिलता रहे। लेखिका कहती हैं, जब तलवारों ने रक्त से अपनी प्यास बुझाई और अकाल ने भूमि को तबाह कर दिया, तब भी भारतीय अपनी प्रज्ञा पर टिके रहे कि ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ भी नहीं है। लेखिका ने वाचिक इतिहास, स्थानीय विद्या, यात्रा वृतांत, उत्तरजीवी साहित्य, शिलालेख, संरक्षित पांडुलिपियों और विद्वानों व जनसाधारण के जीवन वृत्तान्त से जानकारी एकत्र की है। ऐतिहासिक रूप से, यह पुस्तक प्राचीन भारत की परंपराओं से लेकर इसकी विरासत के जानबूझकर विनाश करने तक के एक वृहत् काल को अंकित करती है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com